Chap-2

द्वितीय अध्याय

रंगमंच का बदलता स्वरूप

क. पारसी रंगमंच।

ख. भारतेन्दु कालीन रंगमंच।

ग. पृथ्वी थियेटर ।

घ. एब्सर्ड थियेटर ।

ङ. बहुधरातलीय रंगमंच ।

रंगमंच का बदलता स्वरूप

नाटक एवं रंगमंच का बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत में नाटकों की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। नाटक लिखे ही इसलिए जाते थे कि उनका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके। इसलिए नाटक रचना के साथ ही रंगमंच का उदय भी साथ-साथ निश्चित है। प्राचीन नाटकों में आये रंग निर्देश इस बात को प्रामाणित करते हैं कि नाटक के साथ ही रंगमंच भी उदित हुआ।

संस्कृत काल में रंगमंच का उत्थान यद्यपि अपनी चरम पर पहुँचा था लेकिन बदलती सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों ने नाटक एवं रंगमंच की उत्तरोत्तर परम्परा में एक व्यवधान उपस्थित किया। सातवीं सदी तक आते-आते भारतीय रंगमंच धीरे-धीरे क्षीण हो चला था। लोक रंगमंच यद्यपि अपनी गति पकड़े हुए था फिर भी साहित्यिक नाटकों की दृष्टि से भारतेन्दु (1853) से नाटक एवं रंगमंच का पुनः अस्तित्व हम देख सकते हैं। अनेक विद्वान 'इंदर सभा' को आधुनिक काल का सर्वप्रथम रंगमंचीय नाटक मानते हैं। इसका रचनाकाल 1853 माना जाता है। भारतेन्दु जी ने इसकी अश्लीलता और भौंडेपन से क्षुब्ध होकर 'बंदर सभा' की रचना की थी। एक दूसरा नाटक 'जानकी मंगल' 1853 में बनारस थिएटर में अभिनीत किया गया था। इसके बाद पारसी कम्पनियों का दौर (1870-20वीं सदी) रहा जिसने रंगमंच को व्यवसाय से जोड़कर एक नये अध्याय की शुरुआत की। यद्यपि सस्ते मनोरंजन की दृष्टि से पारसी थिएटर पर अनेक आरोप लगाये जाते हैं। लेकिन हिन्दी रंगमंच ने इससे बहुत कुछ प्राप्त भी किया है। रंगमंच पर विविध दृश्यों को पर्दों द्वारा उपस्थित करने का प्रारंभ इन्होंने ही किया। नाटक के प्रभाव को उत्पन्न करने के लिये प्रकृत दृश्यों को चित्रित पर्दों के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत करने से हिन्दी नाटकों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। मंच पर रथ का चलना, नदी में लहरों का नर्तन, नाव को चलते हुए दिखाना आदि जैसे दृश्यों से दर्शक चमत्कृत हो उठता था।

हिन्दी रंगमंच की स्थापना के पीछे भारतेन्दु का संकल्प 'पारसी थिएटर' की प्रतिक्रिया स्वरूप ही आकार ग्रहण कर सकता था। 'नाटक' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब 'शकुन्तला' नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतली कमर बलखाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर धीबो, बाबु प्रेमदास मिश्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, यह लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।

पारसी रंगमंच :

एक लम्बे व्यवधान के बाद भारत में नाटकों का प्रचलन अंग्रेजों के आ जाने के बाद कलकत्ता और बम्बई जैसे शहरों में मनोरंजनार्थ रूप में होने लगा। अंग्रेजों ने अपने नाटकों के प्रदर्शनों के लिये अच्छे थिएटरों का निर्माण करा रखा था। किन्तु इन थिएटरों में अंग्रेजी के ही नाटक खेले जाते थे।

जब पारसी लोग आठवीं शताब्दी में भारत आए तो व्यवसायिक रुचि अधिक होने के कारण, उनमें धीरे-धीरे नाट्य कला के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। 1853 ई. के आस-पास तो भारत में अनेक विदेशी कम्पनियों ने भारत में अपने पाँव जमा लिये थे। धन-सम्पन्न पारसियों ने इन विदेशी कम्पनियों के असर का पूरा लाभ उठाया और पारसियों ने इन शौकिन क्लबों में जाकर शेक्सपीयर के नाटकों का मंचन किया।

पारसियों को भारत में उच्च शिक्षा दी जाती थी। जिसके कारण उनका अंग्रेजी का ज्ञान और बढ़ गया।

"पारसी नाटक मंडलियों ने शेक्सपीयर के नाटकों को ही आधार इसलिये बनाया क्योंकि वे संस्कृत नाट्य परम्परा के बहुत समीप थे। उनकी टेकनीक और शैली संस्कृत नाटकों से मिलती थी इसलिये पारसी रंगमंच के विकास का स्त्रोत

सर्वप्रथम शेक्सपीयर के नाटकों से प्रारंभ हुआ। शेक्सपीयर के नाटकों से प्राचीन भारतीय नाटकों की समानता के कारण शिक्षित लोगों में उनका प्रचार होते देर न लगी।"[1]

सर्वप्रथम पारसी थिएटर की स्थापना 1 अक्टूबर 1853 ई. में 'पारसी नाटक मंडली' के नाम से हुई, इन पारसी रंग मंडलियों ने रंगमंच पर अभिनय कौशल द्वारा अपने-अपने प्रदर्शन किये। शेक्सपीयर एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रभाव इन पारसी कम्पनियों पर पड़ा। उन्होंने उनकी ही अभिनय शैली एवं टेकनीक को ग्रहण भी किया। अंग्रेजी कम्पनियों के प्रदर्शन में जो तड़क-भड़क का आकर्षण था वह पारसी कंपनी मे आकर और बिखर गया तथा उन्होंने भारत में ही व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना कर डाली।

इसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य क्या था? यह जानने के लिये पारसी थिएटर को जानना आवश्यक हो जाता है, जिसने भारतीय नाट्य शैली को बहुत ही प्रभावित किया। इनका मुख्य उद्देश्य केवल जनता का मनोरंजन करना ही नहीं था साथ ही साथ व्यावसायिक तौर से भारत में पैसा लगाना भी था। कलात्मक और नाटकीय सीमा की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। यह भी सत्य है, कि यह पारसी नाट्य परम्परा जिस तरह भी शुरु हुई वह हमारी निजी परम्परा और हमारी संस्कृति के आसपास ही थी।

संस्कृति और लोक नाट्यों के बीच एक लम्बी अवधि तक की नाट्य परम्परा का चलते रहना, और मुगल शासन के दौरान एक लम्बे समय का व्यावधान आदि कारणों से ही पारसी नाट्य शैलियों को भारतीय परिवेश में लोगों ने ग्रहण किया। यही कारण भी है, कि आज की फिल्मों पर इन पारसी रंगमंच का प्रभाव अधिक पड़ रहा है। हमारे साहित्यिक नाटकों का जनमानस पर भी प्रभाव अछूता नहीं रहा है। इसलिये आधुनिक रंगमंच को जानना है तो सबसे पहले भारत में पैर जमाये हुए इस पारसी रंगमंच का अध्ययन करना आवश्यक है। इसके बिना आधुनिक रंगमंच की

कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण भारत वर्ष अंग्रेजों का गुलाम था और स्वतन्त्रता के लिये भारत का जनमानस संघर्षरत था। हिन्दी रंगमंच पर अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव इस पर पड़ा।

पारसी हिन्दी में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली' आदि नाटक खेले भी जा रहे थे, किन्तु रंगमंच का स्वरूप निष्प्राण था। इसमें बनावट अधिक थी, और सारा नाट्य दिखावे के लिये ही था। यह रंगमंच न होकर 'कॉमेड़ी ऑफ मैनर्स'[2], 'कॉमेड़ी ऑफ एक्टींग'[3] तथा भावुकता का 'मेलोड्रामा'[4] था। इसका कारण यह रहा कि उस समय का काल इंग्लैण्ड के नाटक के पतन का काल था। ऐसे समय यहाँ के और वहाँ के रंगमंच में अन्तर कर पाना मुश्किल था। भारतीयों के लिए रंगमंच की कोई व्यवस्था नहीं हो पाई थी, जो भारतीय समाज को अपनी ओर खिंच पाता। केवल लोकनाट्यों की स्वस्थ परम्परा ही चली आ रीह थी, और इस समय भारतीयों के लिये यह रंगमंच चमत्कृत कर देने वाला था। जिसमें नया और सस्ता मनोरंजन था। बम्बई थियेटर 1849 में ग्रांट रोड पर बना। इसके रहते हुए ही आस-पास कई नाटक कम्पनियों ने धीरे-धीरे जन्म ले लिया, जिसमें थी 'हिन्दू ड्रॉमेटिक कोर'। इस कम्पनी ने 9 मार्च 1853 को मराठी नाटक खेला और फिर 27 नवम्बर को 'राजा गोपीचन्दर' उर्दू में खेला गया था। जो एक 'ऑपेरा' था। ऐतिहासिक दृष्टि से 1874 में हिन्दी पारसी रंगमंच का प्रारंभ हुआ। इसमें कई भाषाओं के रंगमंच का समावेश था, जैसे पारसी हिन्दी, पारसी गुजराती, पारसी उर्दू, पारसी बंगाली, पारसी मराठी, किन्तु सबसे अधिक नाटक पारसी हिन्दी में ही हुए। बनारस में 'न्यू अल्फ्रेड' नाम की कम्पनी आई जिसने उस समय अपना डेरा जमा लिया था।

"पारसी थियेटर किसी रंगमंच विशेष का नाम न होकर उन थिएटर कम्पनियों का नाम है, जिनके मालिक पारसी लोग थे। यह पारसी थिएटर दरअसल उस विशाल जनता (दर्शक समाज) का दिया हुआ नाम है जो इसकी आशिक थी।"[5]

भारतीय संस्कृति के अनुसार जहाँ लोकनाट्यों की धारा बह रही थी, वहाँ साहित्यिक नाटकों की रचना कम होने लगी, इस समय रंगमंच को ध्यान में रखकर ही नाटक लिखे जाने लगे।

"संस्कृत के भी सारे नाट्यशास्त्री और नाटककार मानते हैं कि जो नाटक रंगमंचीय नहीं अर्थात् जो मंचस्थ नहीं किया जा सकता उसे नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती।"[6]

पारसी रंगमंच अपनी सारी विशिष्टताओं के समेटे हुए था, जहाँ सारा दृश्यत्व, रंगे हुए पर्दे तथा पर्दों का गिरना उठना तथा अंक के दूसरे दृश्य में प्रवेश करने के लिए फिर पर्दे का उठना गिरना, सीन सिनारियो का होना, अभिनय, यांत्रिक प्रभावों का प्रदर्शन कर दर्शकों को चकाचौंध करना जैसे। आरंभ में पारसी थिएटर तो साधन विहीन थे, किन्तु धीरे-धीरे इनके पास रंगमंच सम्बन्धी सारे उपकरण हो गए। इन कम्पनियों के पास विशेष प्रकार के यंत्र भी होते थे। जिनके द्वारा देवों को हवा में उड़ता हुआ दिखाया जाता था, परियों को आकाश से उतरते दिखाया जाता था। इस प्रकार चमत्कारिक दृश्य और युक्तियों उन्नीसवीं शताब्दी के लंदन ड्रूरीलेन थिएटर की भड़कीली दृश्य सज्जा की सीधी नकल थे।"[7]

रंगप्रभाव, प्रकाश, संगीत व नृत्य तथा उनकी वेशभूषा का तड़कीला-भड़कीला होना, उनका सारा रंग शिल्प और प्रस्तुतिकरण विदेशी सभ्यता का था क्योंकि इसमें निर्देशक से लेकर मेकपमेन, पेन्टर आदि सभी अंग्रेज ही थे।

भारतीय संस्कृति के विरुद्ध नयी शैली का प्रस्तुतिकरण ही इनकी विशेषता रही। यही कारण रहा कि आगे आने वाले नाट्यकारों के लिए जहाँ भारतीय संस्कृति व लोकसंस्कृति के नाटकों का आकर्षण था, वहीं दूसरी ओर पारसी नाटकों की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। इसका बहुत कुछ प्रभाव भारतेन्दु व प्रसाद के नाटकों पर भी पड़ा। इनके लिये थिएटरों में कल्पना और गहराई की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने दृश्यत्व के साथ काव्यत्व को भी जोड़ दिया और केवल मनोरंजन मात्र के लिये

इन नाटकों की छाप पड़ गई व रंगमंच पर नये प्रयोग किये जाने लगे।

पारसी रंगमंच की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं जिस पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है -

कथावस्तु और चरित्र :

पारसी थिएटर के मालिक केवल व्यावसायिक दृष्टि से कम्पनियों को माध्यम बनाकर हिन्दी, उर्दू, गुजराती आदि नाटकों का प्रदर्शन करते रहे। इसमें नाटककार को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वे स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर पाते थे, और वे अपने मालिक के अनुसार ही कार्य करते थे। नाटककार व मालिक ही थिएटर के डिक्टेटर होते थे।

इन कम्पनियों ने कुछ प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर नाटक लिखे। एक और पौराणिक कथाओं का मंचन हुए जिसमें राम और सीता को एक नये परिवेश में प्रस्तुत किया गया तथा बनारस में खेले गये 'शकुन्तला' में दुष्यन्त के चरित्र को मॉडर्न रूप से प्रस्तुत करने लगे। रोमांस के नाटकों को भी अभद्रता के साथ मंचित किया जाने लगा।

उस समय दर्शकों को सामाजिक, राजनीतिक विषय वाले नाटक पसंद आते थे। इसलिये उन नाटकों को उस समय के परिवेश में ढालकर लिखा जाता था, एवं मंचित भी किया जाता था। रोमानियत और पुनरुत्थान की भावना आदि प्रवृत्तियाँ भी इसमें शामिल हो गयी थीं। इन नाट्य प्रवृत्तियों के माध्यम से ही उस समय के समाज बोध और दर्शकबोध का पता चल जाता है। रंग संरचना का स्तर, भाषा, संगीत, पात्रों का अलग आकर्षण, कार्य और व्यवहार, संवादों को बोलने की अपनी नवीन शैली, अभिनय दृश्य, प्रवेश और प्रस्थान, अंक का प्रारंभ, अंत इन सारे मुख्य बिन्दुओं को ही ध्यान में रखकर, किसी भी नाटक को करने से पहले विचार किया जाता था।

आज जबकि भारत स्वतन्त्र है फिर भी भारतीय नाटकों में उन सब वस्तुओं और वाद्य यंत्रों का समावेश हो गया है, जो पारसी थिएटर की देन हैंष अनेक परिवर्तनों के बाद हिन्दी नाटकों में जो विकास हुआ उसमें इसके योगदान को कम नहीं आंका जा सकता है।

अंक व दृश्य :

किसी भी नाटक को जब लिखा जाता था तो रंगमंच को ध्यान में रखकर ही लिखा जाता था। उसके अंकों का विभाजन उसके दृश्यों के आधार पर किया जाता था। एक बार दृश्य तैयार हो जाने पर मंच को उसी तरह सजाया जाता, जिस प्रकार का दृश्य लिखा गया है। मंच को सजा देने के बाद अंकों में आने वाले दृश्य को एक के बाद एख पर्दे के पीछे बने हुए स्टेज पर रख देते थे। मंच सज्जा का दृश्य विधान उनका अपना नया स्टाइल था। यह न तो शेक्सपीयर के नाटकों में मिलता था, और न ही यह संस्कृत और लोकनाट्यों का कोई रूप था। इसका प्रभाव तो विक्टोरियन काल के रंगमंच के समान था। यह प्रभाव तो इन नाटकों के रंगमंचों ने भी अपना आधिपत्य यहाँ जमा रखा था।

प्रवेश और प्रस्थान की व्यवस्था :

पारसी नाटकों में चमत्कार प्रदर्शन होता था। अतः उनकी यही विशेषता भी थी कि प्रवेश चमत्कारपूर्ण होता था, जो नाटक के अनुरूप ही होता था। पारसी थिएटर के नाटककारों में प्रमुख थे आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, तथा नारायण प्रसाद 'बेताब' जिन्होंने नाटकों में प्रवेश व प्रस्थान का पूरा-पूरा ध्यान रखा।

आगाहश्र अपने नाटकों में प्रवेश के लिये निम्न बातों का ध्यान रखते थे।

"1. नायक और नायिका को एक विशेष नाट्य परिस्थिति में प्रवेश कराना और जो आश्चर्यजनक लगे साथ ही चमत्कारपूर्ण भी।

2. जहाँ से कथा में सहसा एक गीत आ धमके, ऐसा महसूस हो जाय।

3. विशेषकर एक ऐसा माहौल जहाँ पात्र का अचानक आना बड़ा नाटकीय लगे।

4. पात्र जिस मनोभाव में आ रहा है उसके खिलाफ परिवेश, ताकि उसके मनोभाव में और भी तीव्रता और अतिनाटकीयता आ सके।"[8]

जिस प्रकार आगाहश्र ने अपने नाटकों में प्रवेश और प्रस्थान की बातों को ध्यान में रखा था उनमें बहुत कुछ बातें हमारे यहाँ चली आ रही लोकनाट्यों की लम्बी परम्परा का ढंग था। जैसे मार्च शैली में ही प्रवेश की परम्परा में एकदम संगीत के बीच में ही सूत्रधार आ जाता था। इसी तरह अन्य चरित्रों के प्रस्थान के समय भी कुछ निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता था।

"1. जब तक पात्र अपनी पूरी बात खत्म न कर ले और अपने संवाद को पूर्ण न कर ले, और उसका रोल खत्म हो जाय तब ही दृश्य के अन्त में प्रस्थान करना चाहिए।

2. पात्रों को स्वतन्त्र होकर अभिनय द्वारा अपने सम्पूर्ण मनोभावों की अभिव्यक्ति के पश्चात अर्थात् पार्ट खत्म हो जाने के तुरन्द बाद ही प्रस्थान करना चाहिए।

3. नाटक के मध्य में दर्शकों को चकित करने के लिये भी पात्र स्टेज से प्रस्थान कर सकता है, तथा मध्य में आकर फिर आश्चर्य में डाल सकता है, यह सब नाटक की कथावस्तु और संवादों के उपर निर्भर करता है। और नाटक के लिये भी।

4. जब दृश्य समाप्त हो जाय उसके बाद उस अंक वाले पात्र प्रस्थान कर सकते हैं तथा बाद मं एकत्रित होकर सभी पात्र मंच पर उपस्थित हो जाते हैं। फिर सभी का एकसाथ प्रस्थान होता है।

5. कथा चरित्र में अचानक ही गति के साथ प्रस्थान होता है।"[9]

रंगकार्य और व्यवहार :

यह तो निश्चित ही था कि पारसी थिएटर के मालिक केवल पैसा कमाने की

दृष्टि से नाटक कम्पनियों को चला रहे थे। इनके अन्तर्गत उनका उद्देश्य रंगकार्य में खर्चा, पात्रों के लिए पैसा जुटाना और अन्य खर्चों को भी निकालना होता था, क्योंकि किसी भी नाटक को करने से पहले वे उसकी तैयारियों में खूब पैसा लगा चुके होते थे।

रंगकार्य और व्यवहार की जरुरत थिएटर में अभिनय के लिये ही होती है। अभिनय के माध्यम से ही विशिष्ट एवं चमत्कारपूर्ण अंदाज में इसे प्रस्तुत किया जाता था। इससे अलग हटकर देखने की जरुरत नहीं होती थी। कवि की अतिनाटकीयता भी इसके अन्तर्गत ही आती है। अभिनय के अलावा भाषा, संगीत, नृत्य आदि भी शामिल होते थे। प्रेम और युद्ध की भावनाओं के भावों का प्रदर्शन इन थिएटरों की गुंजाइश रहा है, इसके लिये प्रत्येक नाटककार ने अपनी क्षमता के अनुसार कार्य किया।

अभिनय शैली को पश्चिमी सभ्यता के अनुसार मिलाकर एक नयी शैली का निर्माण किया गया। चमत्कार और आश्चर्यचकित कर देने वाले दृश्य, शौर्य गाथाओं वाले दृश्य, दर्शकों को हैरत में डाल देते थे। तथा उन्हें दो-तीन घण्टे तक वह नाटक बाँधे रखता था। फिर यही उनका नाटक में मनोरंजन का माध्यम बन जाता था, तथा वे एकाग्रचित होकर सम्पूर्ण नाटक के हो जाने के बाद ही बाहर निकलते थे।

अभिनय एवं संवाद :

थिएटर या रंगमंच पर अभिनय कला का अर्थ एक विशिष्ट रूप में लिया जाता था। अभिनय में संवादों की योजना, शेरो-शायरी, वाद्य, संगीत, तलवारों की आवाज की गड़गड़ाहट आदि दर्शकों को बाँधे रखती थी। अभिनय शैली में शेक्सपीयर एवं विक्टोरियन शैली के मिलेजुले रूप को दिखना स्वाभाविक ही थी। संवादों को लम्बा-लम्बा खींचकर बोला जाना, इसे एक विशिष्ट शैली का रूप प्रदान करता था। बार-बार स्पष्ट बोलने का प्रयास किया जाता था। यही कारण भी रहा कि इन नाटकों में

दुःख के भावों को अधिक मान्यता मिली, जिससे दर्शकों के दिल पर सीधा असर पड़ता और उन दृश्यों को देखकर दर्शक भावुक हो जाते।

अभिनय में लोकनाट्य की शैली की पद्धतियों को भी वे अपनाते रहे ताकि भारतीय दर्शक अपनी संस्कृति से मिलते हुए रूप को पहचान सके और उसका विरोध न कर सके। इसलिये इनकी पद्धतियों, रुढ़ियों और व्यवहारों को पारसी कम्पनियों ने अपने अभिनय में ढाल लिया। इन अभिनय शैली के बदलाव में मुख्य हाथ सैयद मेंहदी हसन, 'बेताब', आगाहश्र आदि थे।

भारतीय हिन्दी नाट्यों की नवीन शैली, पारसी अभिनय शैली में विकास करती गई व अभिनय के सम्पूर्ण स्तरों से प्रभावित व संचालित तथा अनुशासन में सतत प्रवाहित होती रही। आगे चलकर इसका प्रभाव पृथ्वी थिएटर्स व हिन्दी सिनेमा पर भी पड़ा। इन थिएटरों के मुख्य अभिनेताओं व मुख्य पात्रों के किरदार निभानेवालों के लिये निम्न मुख्य बातों का होना आवश्यक माना जाता था, जैसे -

तलवार चलाने का गुण, युद्ध करने का कौशल, लाठी चलाना, कुश्ती लड़ना, नाच-गाना, मारपीट करना, ऊँची आवाज का होना, अंगों का लचीलापन, फरटिदार आवाज में संवाद अदायगी आदि का होना जरुरी था।

नये पात्रों और कलाकारों को अपने अभिनय कौशल के आधार पर ही रोल (पार्ट) दिया जाता था, एवं उन्हें प्रशिक्षित भी किया जाता था। अभिनय के साथ-साथ संवादों को बोलने की अदायगी ही पारसी थिएटर की जान थी। पूरे संवाद विधान में शायरियाँ और पद्य ही होते थे जिन्हें लम्बा आलाप लेकर बोला जाता था। दर्शकों को संवाद समझ में आये, इसके लिए एक ही संवाद को दो-तीन बार दोहराया जाता था। शब्दों के अतिआवेग के कारण उनके संवाद अलंकार प्रधान हो जाते थे, जिसमें भाषण, चुटकुले, सवाल-जवाब, शायरी, आदि सम्भव थे। संवादों के लिए निम्नलिखित दृष्टियाँ सामने हैं -

" सूचनार्थ, प्रस्तावनार्थ, रूपरंग, स्थिति, निष्कर्ष हेतु व्याख्या या टिप्पणी के लिये आवेश और आवेग, उद्दिप्ति हेतु, जजबाती फलसफा के लिये।"[10]

अभिनय को दो श्रेणियों में बाँटा गया था आंगिक और वाचिक। अभिनय में पारसी कम्पनियों ने आंगिक अभिनय को उतनी मान्यता नहीं दी थी, जितनी उन्होंने वाचिक अभिनय को दी। आंगिक अभिनय का प्रदर्शन तो समय समय पर कल लिया जाता था। वाचिक अभिनय करने में कलाकार को ज्यादा तकलीफ नहीं होती थी। वह स्वतन्त्र था, और दृश्य बन्धन होने के कारण भी अभिनेता अपने संवादों को स्वतन्त्र रूप से बोलता था। संवादों में भावों की तीव्रता होती थी जैसे 'रुस्तम व सोहराब' के संवादों में भाव देखिये -

(दूसरे सीन में आफरीद का प्रवेश आत्मकथन करती है।)

"शाबाश मुल्क के फिदाइयों तुम्हारी बहादुरी देखकर मगरुर सोबराब भी"[11]

... (सोहराब का नाम जबान पर आते ही दिल में मुहब्बत का असर पैदा हो जाता है) एक भाव,

"औह सोहराब, मेरे दिल को मुहब्बत के नूर से रोशन करने वाले तुम समनगान में क्यों पैदा हुए? अगर तुम मादरे ईरान के फरजंद होते तो मैं कनीज बनकर तुम्हारी खिदमत में अपनी जिन्दगी...."[12]

(सहसा खयाल बदलता है) दूसरा भाव,

"बेवकूफ औरत, यह क्या मुल्क और कौम के एतबार को धोखा दे रही है..."[13]

(गुस्सा पैदा होता है और प्रतिहिंसा) - तीसरा भाव,

"इस जहान में जहाँ लानत है - दिल से भी और कूफ्र से भी..."[14]

(फिर शोला ए मुहब्बत भड़कता है) - चौथा भाव,

"दूर हो ए औरत की दिल की कमजोरी दूर हो..."[15]

(आत्म संघर्ष) - पाँचवा भाव,

"मुहब्बत पीछे हट... फर्ज आगे बढ़।"[16]

(निर्णय और बलिदान का बोध) - छठा भाव,

इन संवादों को अकेली आफरीद ही बोलती है। वह अकेली पूरे रंगमंच पर एक के बाद एक विभिन्न भावों को प्रस्तुत करती हुई, अंगों के द्वारा या मुद्राओं के द्वारा आंगिक अभिनय करती हुई, संवादों की तीव्रता के माध्यम से तथा अपने भड़कीले वस्त्र आभूषणों द्वारा अपने अभिनय क्षमता का करिश्मा दिखाती है। दर्शक ये देखकर तालियाँ बजाता है। प्रत्येक संवादों के मध्य वन्समोर वन्समोर की आवाज आती है तथा अपने संवादों को आफरीद दुहराते चलती है। यह एक अलग वर्ग था९जो इन भावप्रधान नाटकों को देखता था। एक अन्य वर्ग ऐसा भी था जो चमत्कार देखने का शौकीन था और व्याख्यात्मक संवादों में गद्य, पद्य खड़ी बोली को सुनना चाहता था। व्याख्यात्मक संवाद संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुसार उसी की तरह लगते थे। किन्तु इनमें वे अपने आवेग को साथ लेकर चलते थे।

भाव प्रवण नाटकों में अभिनय के मध्य संगीत की मात्रा कम ही होती थी। वहाँ चरित्र ही अपने भावों के द्वारा अपनी बात को कहते थे। शेक्सपीयर और संस्कृत के रंगमंचों के दर्शकों के जैसा वर्ग यहाँ नहीं था। जो वर्ग था, वह परम्पराशील, प्रशिक्षित और सुसंस्कृत था। इसलिये भी पारसी थिएटर के नाटकों में अभिनय व संवाद बोलने की एक अलग पहचान थी।

भाषा प्रवाह :

पारसी थिएटर में प्रायः गुजराती, मराठी, हिन्दी, उर्दू, पारसी, बंगाली आदि सभी भाषाओं में नाटक लिखे जाते थे। पारसी थियेटर में इन भाषाओं के नाटकों में गद्य-पद्य, शेरो-शायरी आदि सभी का प्रयोग पात्रों के अनुकूल हुआ है। गद्यों को सशक्त रूप में बोला जाता था। कई अन्य नाटकों में पद्य का भी जोर रहा। शेरो-शायरी की भाषा पुरूष पात्र बोलते तो नारी पात्र गद्य शैली में। हिन्दी भाषा का प्रारम्भ पारसी थियेटर के नाटककारों में 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक ने किया।

"वैसे तो पारसी रंगमंच का आकर्षण अत्यन्त सतही था, किन्तु प्रभावहीन नहीं था। उसके विनाश का कारण उसकी अपनी सीमाएँ थी। पारसी रंगमंच में अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध का आरंभ भाषा के प्रश्न को लेकर ही हुआ। वस्तुतः उर्दू भाषा जन-साधारण की भाषा होते हुए भी लोकप्रिय नहीं थी। साथ ही पौराणिक कथानकों को प्रस्तुत करने में असमर्थ थी। उर्दू भाषा के प्रयोग से पौराणिक नाटकों का संस्कृत परिवेश समाप्त हो जाता था और नाटक प्रभावहीन होते थे।"[17]

नाटक में भाषा प्रवाह होना तो जरुरी था ही साथ में संवादों के माध्यम से तथा हाथ पैर हिलाकर भाषा को स्पष्ट रूप से प्रयोग में लाया जाता था। जिससे दर्शकों को नाटकीय भाव समझने में सुविधा होती थी। आवेशपूर्ण संवादों में भाषा की लय को पकड़ लेने पर संवाद अपनी चरम सीमा में पहुँच जाता था। भाषा में शब्दों पर अत्यधिक बल दिया जाता था। इसलिये आधा संवाद होने पर ही दर्शक वर्ग उसके आगे के शब्दों को बोलकर अभिनेता के संवादों को पूर्ण कर लेता था।

हिन्दी साहित्यिक भाषा होने के कारण पारसी नाटकों की भाषा में छन्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही था। इन छन्दों का प्रयोग आगर पुरूष करता था तो वह 'बहरेतवील' कहलाता था। कहीं अगर स्त्री पात्र इन छन्दों को बोलती थी तब यह 'बहरे खाफिक' कहलाता था। पारसी थियेटर में भाषा के साथ धीरे-धीरे संगीत भी प्रधान बनता गया।

"सोहराब - दिल को नशा इश्क का, आँखों को दीद का। सोहराब अब गुलाम है, गर्द आफरीद का।

आफरीद - सैलखूं में मौज आहन की रवानी देख ले, अब तू भी बुरिशे-तेगे बयानी देख ले।"18

"पारसी थियेटर को नाट्य आलोचकों ने महत्वपूर्ण स्थान न देकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। फिर भी भारत में हिन्दी रंगमंच की सशक्त परम्परा के विकास में

पारसी रंगमंच के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। विकास की दृष्टि से रंगमंच को तो व्यावसायिक होना ही चाहिए। पारसी रंगमंच जन-मनोरंजन का एक उपयुक्त माध्यम था जो सबके लिये सुलभ था। पारसी रंगमंच दिल्ली दरबार से लेकर 1935-36 ई. तक लगभग चार दशकों तक जीवित रहा, किन्तु 1930 ई. के बाद इसकी कुछ कम्पनियाँ ही जीवित रहीं।

फिल्मों के प्रभाव के बढ़ने के साथ ही सन् 1935 ई. के आसपास पारसी रंगमंच का अन्त हो गया और इसका स्थान क्लबों ने ग्रहण कर लिया।"[19]
इसके साथ ही भारतेन्दु और पृथ्वी थियेटर की एक स्वस्थ परम्परा साथ-साथ चलती रही।

भारतेन्दु कालीन रंगमंच :

आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारंभ भारतेन्दु युग से ही माना जाता है, तथा हिन्दी नाट्य और रंगमंच की स्वस्थ परम्परा को इस युग में ही मान्यता प्राप्त हुई। भारतेन्दु के साहित्य में प्रवेश से प्रत्येक क्षेत्र एक नवीन चेतना से भर उठा था।

भारतेन्दु से पूर्व नवाब वाजिद अली शाह के समकालीन आगाहश्र, अमानत का 'इन्दर सभा' और पं. शीतल प्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल' नाटक का मंचन हिन्दी में था। 'इन्दर सभा' का रचना काल 1853 माना जाता है। इसलिये कुछ विद्वान 'इन्दर सभा' में अश्लीलता एवं भौंडापन था, और भारतेन्दु ने इससे क्षुब्ध होकर एक 'बन्दर सभा' की रचना की थी। पारसी नाटकों के कुरुचिपूर्ण अभिनय ने भारतेन्दु के भीतर की छटपटाहट को और बल दिया एवं सुरुचिपूर्ण नाटकों एवं स्तरीय रंगमंच की आवश्यकता का बीज यहीं फूटा, जिसे उन्होंने अपने नाटकों द्वारा अंकुरित एवं पल्लवित किया।

यह दौर जन चेतना का दौर भी था और भारतेन्दु जानते थे कि नवीन जन

चेतना को नाटक के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। "भारतेन्दु ने हिन्दी को सँवारा, साहित्य के साथ हिन्दी के नये आन्दोलन को जन्म दिया, तथा हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय और जनवादी तत्वों को प्रतिष्ठित किया। यही नहीं, उन्होंने अपने प्रदेश की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को भी पहचाना।"[21]

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों की रचना एक नियोजित उद्देश्य को लेकर लिखे गये थे। भारतेन्दु के नाट्य जगत में प्रवेश ने हिन्दी नाटकों की बाढ़ सी ला दी। प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण, श्रीनिवासदास, प्रेमधन, बाबु गोपालचन्द्र, बाबु केशवदास, अम्बिकादत्त व्यास आदि के नाटकों ने हिन्दी नाटकों के आरम्भिक दौर में सहयोग दिया।

भारतेन्दु के नाटकों का रंगमंच बिना तड़क-भड़क वाला था। उस समय की उनकी रंग कल्पना तथा अपने लिये मुक्ताकाशी रंगमंच व साधारण रंगमंच को चुनने का ही परिणाम है कि आज भी उनके नाटकों को हम एक साधारण रंगमंच पर प्रस्तुत कर सकते हैं। उनके नाटकों की परम्परा व परिकल्पना में लोक शैली के सम्मिश्रण होने के कारण मंच के ऊपर ज्यादा साज-सज्जा की जरुरत नहीं पड़ती थी। पात्र कथावस्तु की माँग पर ही साधारण वेशभूषा में अभिनय कर सकता था। यवनिका के गिरने व उठने का संकेत नाटक की अंक समाप्ति पर होता रहता था। प्राचीन समय में तो इन पर्दों को बाँस में लपेटकर रस्सी के सहारे गिराया और उपर उठाया जाता था। इस प्रणाली को हिन्दी रंगमंच ने पाश्चात्य रंगमंच की शैली से ही अपनाया। अगर दृश्यों को मंच पर मंचित नहीं किया जा सकता था तो इन दृश्यों को प्रतीक रूप में ही दर्शाया जाता था। पात्र स्वयं ही अपने संवादों से उस वातावरण को खड़ा कर देता था। भारतेन्दु के कई नाटकों पर पारसी नाट्य शैली का प्रभाव देखा जा सकता था। जैसे - पर्दे का हटना व पूर्ण दृश्य पर अन्धेरा होना, पात्र के प्रवेश होने पर प्रकाश का प्रभाव दर्शाना जिससे दर्शकों को भयानकता का अहसास न हो और नाट्य की निरंतरता बनी रहे। पात्रों के मंच पर प्रवेश और प्रस्थान के समय

संगीत के प्रयोग में पारसी वाद्य यंत्रों का प्रयोग यथा सम्भव होना चाहिए आदि।

भारतेन्दु रंगमंच के लिये दर्शक ही नहीं एक पाठक भी बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने अपने नाट्य लेखन में प्रहसन, भाण, नाटिका, गातिरूपक, लास्य रूपक, नाटक आदि जैसे विभिन्न नाट्य रूपों को अपनाकर हिन्दी रंगमंच के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। इस अभाव की पूर्ति और रंगमंच को आगे बढ़ाने के लिये उन्होंने अपने 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिका में लिखा - "एक लोटा ही पास में हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।"[22] और शायद यही वजह भी थी कि उनके साथ काशी, कानपुर, आगरा, दिल्ली, प्रयाग, मिर्जापुर आदि कई स्थानों से नाटककारों ने रंगमंच के लिये नाटक लिखना प्रारंभ कर दिया। भारतेन्दु का इस रंगकल्पना के पीछे बंगाली रंगमंच का भी बड़ा योगदान रहा। उसी रंगमंच से उन्होंने प्रेरणा भी ग्रहण की थी। इसके लिये उन्होंने कलकत्ता जाकर बंगाली रंगमंच को नजदीक से देखा और परखा। बंगाली साहित्य को हिन्दी साहित्य की बड़ी बहन मानते हुए उन्होंने कहा था - "अपनी सम्पत्तिशाली ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षयरत्न भांडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।"[23]

भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के उस स्वरूप की बुनियाद भी डाली जिसमें सम्भ्रांत समाज में अभिनय के प्रति रुचि और सम्मान की भावना जागृत हुई। उस समय नाटककार सिर्फ नाटक लिखने का कार्य ही नहीं कर रहे थे बल्कि वे अपने क्षमता के अनुसार रंगमंच के लिये एक सक्रिय भूमिका भी निभाते थे।[24] क्योंकि नाटककार के लिये नाटक एक ऐसा मंच बन गया था जिसमें मनोरंजन तो होता ही था, और अंग्रेजों के खिलाफ अपनी आवाज को दर्शकों के सामने रखने का माध्यम भी सिद्ध हो रहा था। साथ ही साथ परिवर्तन, सुधार और जनता में नवजागरण लाने का प्रयत्न था।

चारों और पुनरुत्थान के दौर से नाटक के पुनरुत्थान को जोड़ने का कार्य

भी भारतेन्दु की ऐतिहासिक सूझबूझ का परिचय देता है। अपने नाटकों द्वारा भारतेन्दु ने उस समय के प्रश्नों को भी उठाया। भारतेन्दु ने अपनी नाट्य भूमिका में कहीं तमाशा तो कहीं लीला शब्द का कई बार प्रयोग भी किया है। उनके 'चंद्रावली' नाटक में जहाँ रास-लीला है वहीं उसकी भाषा में गद्य-पद्य का प्रयोग हुआ है और लम्बे-लम्बे आलापों के साथ छोटे संवाद, संगीत, नृत्य की विधा को पेश किया है। उनका 'अन्धेरनगरी' प्रहसन होते हुए भी नौटंकी शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है।"[25] भारतेन्दु अपने नाटकों के माध्यम से एक ऐसा रंगमंच बनाना चाहते थे जिसमें कलात्मक प्रौढ़ता के साथ रंगमंच की उदात्तता और भारतीय जनजीवन की आकांक्षाओं का प्रतिफलन भी विद्यमान हो।

हिन्दी रंगमंच के उन्नयन में भारतेन्दु का अभूतपूर्व योगदान रहा है। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे और अपने साथियों से लिखवाये। भारतीय नाट्यकला एवं पाश्चात्य नाट्यकला के तत्वों का समन्वयन करके उन्होंने हिन्दी रंगमंच के लिए एक नये शिल्प का प्रवर्तन किया। संस्कृत नाट्य शैली के अत्यन्त रूढ़ और अनुपयोगी अंशों को हटाकर पाश्चात्य शैली के उपयोगी अंशों का उन्होंने समन्वय किया। सम्भ्रांत समाज में अभिनय एवं रंगमंच के प्रति सम्मान की भावना जागृत करने में भारतेन्दु का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने अपने नाटकों को युग की माँग के अनुरूप राष्ट्रीय भावना के प्रचार का माध्यम बनाया। हम यूँ भी कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने ही हिन्दी रंगमंच की नींव रखी।

पृथ्वी थियेटर :

हिन्दी रंगमंच के उतार-चढ़ाव के चलते पृथ्वी थियेटर का निर्माण एक महत्वपूर्ण घटना है। उस समय जितनी सफलता इस थियेटर को मिली उतनी शायद किसी अन्य थियेटर को नहीं मिली। 'पृथ्वी थियेटर' को हिन्दी रंगमंच के इतिहास में 'मील का पत्थर' माना जाने लगा, जिसने लगातार सोलह सालों तक हिन्दी रंगमंच का पथ-प्रदर्शन किया।

'पृथ्वी थियेटर' ही एक ऐसा थियेटर था जिसे साहित्यिक और सामान्य दोनों प्रकार की रुचि रखने वाले लोगों ने न केवल पसन्द किया बल्कि अपने नाटकों द्वारा इस संस्था ने सामान्यजन को समय की माँग के अनुसार एकता का मूलमंत्र भी दिया व इसके नियामक पृथ्वीराज को श्रद्धा से भी देखा।

15 जनवरी 1944 को यह थियेटर अस्तित्व में आया और नारायण प्रसाद बेताब ने इसका नामकरण किया। अपनी मुलाकात के दौरान 'बेताब' ने कहा, "पृथ्वीराज जी नया युग है और नया जमाना है। घिसी-पिटी लकीरों पर तो आप चलियेगा नहीं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के कितने अनुवाद हो चुके हैं, एक मैं भी कर दूंगा तो क्या बात बनी? बात इसी में है कि आप इसे आज के युगानुसार नये ढंग से पेश कीजिये।"[26] उनका आभार प्रकट करते हुये पृथ्वीराज आगे चलकर कहते हैं कि "इसी के फलस्वरूप मैं पृथ्वी थियेटर के अन्य खेलों द्वारा देश को, भिन्न-भिन्न जटिल समस्याओं को, सादा और सरल सेटों पर अंकित करने में, उन खेलों के लेखकों का हाथ बंटा सका, उन्हें कुछ प्रेरणा दे पाया, कुछ विचारों का आदान-प्रदान करने योग्य बन सका।"[27]

पृथ्वीराज कपूर ने नाट्यगृह के अभाव से उस समय 'ऑपेरा हाऊस' में नाटकों का मंचन किया। रविवार को दिन में शो खाली होने की वजह से उसे उन्होंने किराये पर लिया और एक नयी परम्परा से दिन में नाटक खेलने के सफल प्रयोग किये।

'पृथ्वी थियेटर' व्यावसायिक होते हुए भी उस अर्थ में व्यावसायिक नहीं था जिस अर्थ में पारसी रंगमंच था। पृथ्वी थियेटर में न तो तड़क-भड़क थी और न ही चमत्कार दिखाने वाले अतिरंजनापूर्ण दृश्य। अतिनाटकीयता की अपेक्षा पृथ्वीराज ने अभिनय में स्वाभाविक और सजीवता को महत्व दिया। यही कारण भी रहा कि इसके आठों नाटकों को दर्शकों ने काफी सराहा। राजनैतिक चेतना और साम्प्रदायिक अखण्डता

के परिप्रक्ष्य में लिखे गये नाटकों को दर्शकों ने हाथों-हाथ तो लिया ही, साथ में पृथ्वीराज कपूर की मंत्र मुग्ध कर देनेवाली अभिनय प्रतिभा को भी खूब ख्याति मिली और हिन्दी रंगमंच ने एक बार फिर उन्नयन की चरमसीमा को छू लिया।

'पृथ्वी थियेटर' ने अपना पहला नाटक 'शकुन्तला' का मंचन 9 मार्च 1945 को रोयल ऑपेरा हाउस में ही किया था। नाटकीय तत्वों के अभाव और नाटक की ऐतिहासिकता व साहित्यिक सौन्दर्य की कमी के कारण यह असफल तो रहा किन्तु फिर भी आगे चलकर इसके दो सौ से ऊपर प्रयोग हुए। 'शकुन्तला' के प्रथम प्रस्तुतिकरण के विषय में बलराज साहनी कहते हैं कि "पृथ्वी थियेटर्स के इस प्रोडक्शन में कालिदास की स्पिरिट प्रायः गायब थी।"[28]

नाटक में दुष्यन्त है पृथ्वीराज और शकुन्तला बनी है अजरा मुमताज। परन्तु सारे नाटक में अजरा प्रेमिका के भावों को कहीं भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाई और उसके मुँह से 'अनुसुया' 'प्रियंवदा' का उच्चारण भी ठीक से नहीं हो पाता था। सबसे आश्चर्य तो तब हुआ जब दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को न पहचानने पर वह 8 जून 1949 तक इस नाटक के 450 प्रयोग हो गये थे। इस नाटक की इतनी धूम रही कि इसका प्रदर्शन अब तक 700 से भी ज्यादा बार हो चुका है।

'दीवार' से भी बढ़कर सशक्त नाटक बना उनका अगला नाटक 'पठान'। 13 अप्रैल 1947 को पहली बार इसका मंचन मिनर्वा थियेटर नागपुर में हुआ। यह एक दुखान्त नाटक था जिसमें फ्रंटियर के मुस्लिम खाँ और हिन्दू दीवान के प्रेम व आत्मीयता की कहानी दर्शायी गयी। 'दीवार' में कार्य और स्थान की अन्विति थी, जो 'पठान' में और भी ठोस रूप में दिखायी देती है। इसका दृश्यबंध कुटन इस प्रखार था - "खान सहाब के घर का अहाता रंगमंचीय कौशल आदर्शात्मकता से युक्त है। अहाते के सामने एक गोल-सा बुर्ज है, जिस पर चढ़कर शत्रु की गतिविधियों का निरीक्षण किया जा सकता है। बायीं ओर अन्दर जनानखाने का दरवाजा दिखायी

देता है जिसके बाहर एक ऊँचा सा चबूतरा है। दाँयी ओर बड़ा किवाड़ है जो बाहर गली में खुलता है।"[29]

नाटक के तीनों अंक हर बार शिखर पर समाप्त होते हैं। कार्य की तीव्रता, पात्रों का ज्वलंत वेग और भाव तथा उद्देश्य के कारण यह नाटक भारतीय मंच के चोटी के नाटकों में से है। प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से पृथ्वी थियेटर के ये दो नाटक ही (दीवार, पठान) सशक्त और सफल रहे हैं। 'पठान' के नाट्यशिल्प की प्रशंसा में चन्द्रभान का मत इस प्रकार का है -

"The whole play "Pathana" is arranged only in one setting in which gives the idea of completeness and nowhere unusualness is found."[30]

इसके बाद जिस नाटक को सफलता मिली वह सामाजिक विषय व साम्प्रदायिक दंगों से संबंधित था। पृथ्वी थियेटर का यह नाटक 'आहुति' तीन सौ से अधिक बार विभिन्न प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किया गया। तीन अंकों के इस नाटक की पृष्ठभूमि में भी तीन प्रान्त हैं - सीमा प्रान्त, पंजाब और बम्बई। इसका दृश्यबन्ध अलग-अलग दृश्यों पर आधारित था। अतः पृथ्वी थियेटर ने इसे एक चुनौती के रूप में लिया और इस बहुदृश्यबन्धीय नाटक को खेलकर एक साहसिक प्रयोग किया।

नाटक के संवाद अन्य नाटकों से हटकर लिखे गये थे। इसके संवाद कहीं अधिक भावपूर्ण, मर्मस्पर्शी तो कहीं सटीक एवं सशक्त थे। बीच-बीच में अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया गया था। इस नाटक में खास बात यह रही कि पंजाबी लोकगीत एवं भजन के साथ सूर, कबीर, मीरा के पद भी इसमें शामिल किये गये।

'पठान' के पश्चात पृथ्वी थियेटर ने 'गद्दार' (15 जुलाई 1947) रोयल ऑपेरा हाउस, 'कलाकार' (7 सितम्बर 1951), 'पैसा' (4 सितम्बर 1953, अहमदाबाद) व 'किसान' (26 अक्टूबर 1956 रॉयल ऑपेरा, बम्बई) का सफल प्रदर्शन किया। इन सभी नाटकों का प्रदर्शन 100 से अधिक बार हुआ।

'गद्दार' और 'आहुति' रूप विधान की दृष्टि से कमजोर होने के कारण मंच पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाये। 'कलाकार', 'पैसा', 'किसान' इन तीनों का भी नाटकीय पक्ष दुर्बल था। केवल वही मात्र दृश्य सजीव और प्रभावित हुए हैं जहाँ भीड़ दिखाई गयी है। प्रत्येक नाटक में प्रमुख पात्र की भूमिका स्वयं पृथ्वीराज कपूर ही करते रहे इसलिये भी अभिनय की कसौटी पर भी आकर्षण का केन्द्र बिन्दु वे स्वयं ही रहे। पृथ्वीराज कपूर के नाटकों के बारे में बलवन्त गार्गी ने अपने मत में कहा "उनके चार घण्टों के ये नाटक एक बड़े लहंगे की तरह है, जिस पर नाचों और गीतों की झालर लगी हुई है। उनके नाटक एक व्यक्ति के पूरे जीवन की घटनाओं की कथा है। उनमें बालक उत्पन्न होकर युवक बनते हैं, काली दाढ़ी धीरे-धीरे सफेद हो जाती है, ऋतुयें आती है और जाती हैं व जीवन का काफिला चलता जाता है। उनके नाटकों में विवाह-शादियाँ, रीति-रिवाज और पर्व-त्यौहारों की झाँकियाँ आती हैं जिनसे नाटक सरस और रंगीन बन जाते हैं। ऐसे नाटकीय विषयों का चयन एक साधारण भारतीय की उस रुचि को व्यक्त करता है, जो जीवन की विभिन्नता और लाखों जीव-जन्तुओं की लीला को स्वभावतः स्वीकार करता है। पश्चिमी ढंग के मुखौटे जरे यथार्थवादी मंच पर डब्बेदार दृश्यबन्ध को सीमित क्षेत्र में पृथ्वीराज ने भारत की गलियों और खुले चौगानों में प्रवाहित जीवन को सफलतापूर्वक दिखाया है।"[31]

पृथ्वीराज नाटकों का निर्देशन स्वयं करते थे। हर नाटक का नायक पृथ्वीराज का अपना प्रतिबिम्ब था। इसलिये उसका चरित्र सदा नेक और पवित्र दिखाया जाता। नाटक देखने के बाद दर्शक तो जैसे सबकुछ भूल ही जाता था और दिमाग पर छा जाते पृथ्वीराज कपूर! अगर पृथ्वीराज को उन प्रदर्शनों से हटा दिया जाय तो नाटक का सम्पूर्ण ढाँचा धराशायी हो जायेगा। क्योंकि पृथ्वी रंगमंच के नाटक केवल पृथ्वीराज के लिये ही लिखे गये थे। एक ही चरित्र को ध्यान में रखकर नाटक का संघर्ष क्रमशः आगे बढ़ता था। परिणाम स्वरूप एक व्यक्ति को तो ऊपर उठने का पूरा अवसर मिल जाता किन्तु दूसरे पात्रों की अभिनय कुशलता अवरुद्ध हो जाती थी।

किन्तु फिर भी नाटकों के पात्र आवश्यकता से अधिक अतिभावुक होने की वजह से अपना महत्व कम नहीं रखते थे। भावावेश में तो पृथ्वीराज का गला भर आता था। वे तेज-तेज बोलते और उनके मुँह से शब्द अधचबाए चावलों की तरह गिरने लगते थे।

पृथ्वी थियेटर के सभी नाटकों में नृत्य एवं गीत आदि का समावेश तो रहता है पर वे संगीत एवं कथ्य से जुड़े होते थे। प्रदर्शन की दृष्टि से यह उस समय चलने वाले थियेटरों की चमक-दमक संगीत से दूर था। इसलिये भी उनकी प्रस्तुति का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि अपने प्रदर्शन के समय शांति के लिये कई बार गर्मी में बिजली के पंखे भी बन्द करवा दिये जाते थे और इसके बावजूद भी दर्शक सांस रोके हुए बड़े ही तन्मय भाव से नाटक देखते रहते थे। प्रदर्शन की सफलता का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है। पृथ्वीराज कपूर वर्ष में कम से कम चार महीने के लिये 'पृथ्वी थियेटर' के नाट्यदल तथा रंग सज्जा एवं रंगोपकरण के साथ उत्तर अथवा दक्षिण भारत का भ्रमण किया करते थे।

"वे ट्रकों में नाटकों के पर्दे, साज सज्जा तथा सामान भरकर अपनी 10 व्यक्तियों की कम्पनी लेकर दूर-दूर नगरों में गये। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में 2500 प्रदर्शन किये, उनका थियेटर किसी एक विशेष क्षेत्र का नहीं था, वास्तव में पृथ्वी थियेटर 'अखिल भारतीय थियेटर' था।

पृथ्वीराज कपूर के लिये नाटक एक धन्धा था। 'पृथ्वी थियेटर' के पीछे एक आदर्श, एक स्वप्न, एक उद्देश्य था। इन्होंने हिन्दी नाटक और रंगमंच को सोलह वर्षों तक पुनर्जीवित किये रखा और इसके एक नई धड़कन दी। थियेटर चलाने के लिये इसका माहवारी खर्च लगभग बीस हजार रुपये था, जो उस समय मामूली बात नहीं थी। पृथ्वीराज कपूर की एक विशेषता यह थी कि नाटक समाप्ति पर वे हॉल के बाहर दरवाजे पर झोली फैलाकर खड़े हो जाते थे सिर झुकाए, आँखें नीची किये

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

हुए ताकि सामर्थ्य और इच्छा के अनुसार दर्शक दान दे सकें। यह झोली हमेशा किसी पुण्य कार्य के लिये फैलाई जाती थी। पृथ्वीराज ने अनेक संकट झेलकर वर्षों तक अपने रंगमंच के प्रदीप को जलाये रखा और चन्दा इकट्ठा करने के बावजूद भी रंगमंच अधिक समय तक न चल सका और अन्ततः अर्थाभाव के कारण इस पृथ्वी थियेटर को 1960 में बन्द कर देना पड़ा। डॉ. धर्मवीर भारती का कथन है -
"कहते हैं कि पृथ्वीराज के रंगमंच को सिनेमा खा गया। लेकिन यूं तो सेक्सपीयर और कालिदास के रंगमंच को भी खा गया, लेकिन वे कृतियाँ तो आज भी हैं और उनमें निहित कला बीज नये-नये रंगमंचों को जन्म देते रहते हैं। फिर पृथ्वी रंगमंच की वे कृतियाँ कहाँ गईं? उनमें किस तत्व की कमी थी जो हमने उन्हें भुला दिया और इतनी जल्दी? लगता है पृथ्वी थियेटर में सबकुछ था सिर्फ एक चीज नहीं थी यानि नाटक।"[33]

पृथ्वीराज कपूर तो अपनी स्थायी रंगशाला नहीं बना सके। किन्तु उनका यह अधूरा सपना उनके पुत्र तथा प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता शशीकपूर ने जुहू में 'पृथ्वी थियेटर्स' नाम से रंगशाला बनाकर पूर्ण किया। अब दादा पृथ्वीराज कपूर और माता-पिता जेनीफर शशीकपूर की रंगभूमि को जीवंत रखने की परम्परा में संजना कपूर अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है।

एब्सर्ड थियेटर :

पश्चिम के एब्सर्ड नाटकों से प्रभावित होकर हिन्दी नाटकों में अस्तित्ववाद छाया रहा और कुछ समय तक यह धारा अविरल रूप से बहती रही। परिणामतः नाटकों में कथ्य का गिरता हुआ स्तर अथवा कथ्यहीनता का प्रयोग इस दौर में पाया जाने लगा। पश्चिम में एब्सर्ड थियेटरों को आगे लाने का श्रेय मुख्यतः बेकेट, आयनेस्को एवं जेने आदि को जाता है। हिन्दी नाटक को इससे जोड़नेवाली कड़ी में सर्वप्रथम पाश्चात्य नाटककार बेकेट का नाम ही आता है। जिन्होंने 'बेटिक फार गोदो आर एडगेम' के द्वारा हिन्दी नाटक और रंगमंच को विश्व पैमाने पर ला खड़ा

किया। एब्सर्ड नाटकों की यह विशेषता थी कि इन नाटकों में कथानक का सर्वथा अभाव रहता था। जिसके कारण इनके पात्र जीवन से निराश, थके-हारे, आलसी, व्यथित और सनकी प्रवृत्ति के लगते हैं। इसलिये भी एब्सर्ड नाटकों का कोई तयशुदा अन्त नहीं होता था, और न ही उनका कुछ विकास हुआ। इन नाटकों की दूसरी विशेषता नाटकीय अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक ढंग अपनाने और निरन्तर सांकेतिक अभिव्यक्ति करने तक ही सीमित रह गई थी। हिन्दी रंगमंच पर एब्सर्ड नाटकों का निश्चित रूप से कुछ न कुछ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता रहा। अस्तित्ववाद की विचारधाराओं में भी साहित्य एवं कला की अभिव्यक्ति होती थी। जो नाटक के रंगमंचीय वैशिष्ट्य का स्त्रोत बन गया। हिन्दी के एब्सर्ड नाटकों में सर्व श्री भुवनेश्वर, विपिनकुमार अग्रवाल, सत्यवर्त सिंह, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि प्रमुख हैं। इन्होंने क्रमशः 'तांबे के कीड़े', 'लोटन', 'तीन अपाहिज', 'खोये हुए आदमी की खोज', 'अमृतपुत्र' तथा 'रोशनी नदी है' नाटकों की रचना की। इन एब्सर्ड नाटकों का प्रभाव जनता पर कुछ ही समय तक रहा। ऐसे नाटकों का प्रभाव क्रमशः क्षीण होता गया और जनता ने इन्हें नापसन्द कर दिया। ऐसे नाटक जिनमें निराशा, टूटन, घुटन, खीझ, ऊब, संत्रास और अकेलापन आदि का समावेश था, वे शीघ्र ही रंगमंच और जनता के दृश्यपटल से ओझल हो गये और केवल प्रायोगिक दृष्टि से ही इन नाटकों की सार्थकता बरकरार रही।

एब्सर्ड थियेटर या क्रूआलिटी थियेटर जैसी नाट्य अवधारणायें प्रयोग के स्तर तक तो दर्शकों को लुभाती और आकर्षित करती रही किन्तु वे स्वीकृत नहीं हो सकीं। किन्तु जर्मन नाटककार रंगकर्मी ब्रेख्त की नाट्यवधारणा ने साठोत्तरी नाटक और रंगमंच को निश्चित ही सार्थक और प्रभावी बना दिया। यह रंगमंच महाकाव्यात्मक रंगमंच जैसा बना।

"संकीर्ण व्यक्तिगत सुख-दुख या भावुकता-वेदना के प्रचलित (नाटकीय थियेटर) से हटकर ब्रेख्त ने एपिक थियेटर की कल्पना की। इसके लिये उन्होंने

दर्शकों को रंगमंचीय जादू से अभिभूत करने के बजाय उसे जागरुक पर्यविक्षक बनाने, प्रतिक्रिया करने और युक्तिसंगत निर्णय लेने पर बल दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ब्रेख्त ने मंच सज्जा और दृश्यबंध निर्माण की तैयारियों को दर्शकों के सामने करने की सलाह दी जिससे वह उसे जादू नहीं कारीगरी का काम समझें। यही बात प्रकाश के बारे में भी सही है। उसने स्थान और दृश्य परिवर्तन के लिये तख्तियों या तस्वीरों का उपयोग करने की सलाह दी। गीतों का प्रयोग कमेंट करने के लिये किया।"[34]

नुक्कड़ रंगमंच :

साठ के दशक में नाटक और रंगमंच अपने नये-नये प्रयोगों के द्वारा दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र बन गया। अपने नाट्यों के उद्देश और उसके प्रभाव को दर्शाने के लिये नाटककार और रंगकर्मी आदि ने रंगशाला की सारी पाबंदियों को तोड़ते हुए समाज की समस्याओं को उनके सामने, जिनका ये नाटक है, उसी भीड़ के सामने गलियों, चौराहों और नुक्कड़ों पर ला खड़ा किया। इन नाटकों ने जन-चेतना व आक्रोश लाने के लिये ही जन्म लिया।

नुक्कड़ रंगशाला व प्रदर्शन बन्द कमरे व बन्द प्रेक्षागृहों, लोकमंच की शैली से प्रेरित न होकर यह नुक्कड़ रंगमंच सभी बाधाओं को तोड़कर तथा उनका बहिष्कार कर आगे निकल आया। तब उनमें चारों ओर के जन साधारण से जुड़ने वाली छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान आकर्षित होने लगा। छतों पर, कॉफी हाऊस, तलघरों, सड़कों आदि पर जहाँ-जहाँ भी यह नाटक पहुँचा उनमें पुरानी रुढ़ियों और पद्धतियों को नकार दिया गया और नये विषयों पर नाटक लिखे जाने लगे। इस समय के लेखकों व नाटककारों ने अपनी रचना और शिल्प को उस समय से अलग रखने का प्रयत्न किया। इन नुक्कड़ नाटकों में किसी दृश्यबन्ध की अपेक्षा नहीं की जाती।

एक तरफ जहाँ साठ के दशक में ब्रेख्त व भारतीय लोकरंगमंच की परम्परायें

सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो रही थीं, वहीं इन नुक्कड़ नाटकों का जन्म और उनका प्रस्तुतिपक्ष जनता के हृदय व मस्तिष्क पटल पर उतर सा गया। नाटक, लेखक और निर्देशक का महत्व रंगमंच के लिये बढ़ गया क्योंकि ऐसे समय उन्हीं नाटकों और रंगमंच की जरुरत थी जो जनता को उसके निकट ला सके। इसलिये नुक्कड़ नाटकों को माध्यम बनाकर उसको ध्यान में रखकर ही नाटक लिखे जाने लगे। डॉ. जयदेव तनेजा अपने शब्दों में नुक्कड़ नाटकों के बारे में लिखते हैं - "रूप एवं वस्त्र सज्जा लगभग नहीं के बराबर, कोई मंच, कोई दृश्यबन्ध नहीं। आड़म्बर और तामझाम से एकदम मुक्त। आम आदमी की जिन्दगी की दैनिक समस्याओं और तत्कालिन परिस्थितियों का जीवंत प्रस्तुतिकरण ही इस नाटक में दर्शक की सक्रिय भागीदारी को उत्साहित एवं प्रेरित करती है।"[35]

नुक्कड़ नाट्य रंगमंच हिन्दी नाटक का एक नवीन सोपान बन गया और शारीरिक रंगमंच वाले इन नाट्यों के लिये भी स्थायी रंगमंच की आवश्यकता नहीं रह गयी। उसमें अभिनेता के अलावा बाकी सारी तत्व जो स्थायी रंगमंच पर नाट्य प्रस्तुत करते समय प्रयुक्त होते थे, गौण हो गये। उनकी भाषा साहित्य से निकलकर सड़क पर बोली जानेवाली भाषा बन गयी। व्यंग्य का प्रयोग और पद्यों का प्रयोग भी समय समय पर होता था क्योंकि लोकनाट्यों की परम्परा उस समय चल रही थी। नौटंकी परम्परा का निर्वाह चल रहा था। बी.वी. कारंत जैसे बड़े नाटककार भी यह मानते हैं कि नुक्कड़ नाटकों के अलावा नौटंकी आदि शैली का कई नाटकों में सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है।

डॉ. अवस्थी ने नुक्कड़ नाटकों के बारे में यह कहा कि "नाटक सड़क पर पहले कभी नहीं आया, इसलिये नुक्कड़ नाटकों के नयेपन और वैशिष्ट्य को स्वीकारना पड़ेगा। यह नाटक का विशिष्ट लचीला फॉर्म है, सबसे बड़ी बात यह है कि यह बगैर किसी रंगमंचीय तामझाम के खेला जा सकता है।"

नुक्कड़ नाटक अधिक कलात्मकता के फेर में नहीं पड़े। वे अपना उद्देश लेकर चले और अपनी बात जनता के मध्य तक पहुँचाना इनका विशेष मकसद बन गया। इसमें पाँच, छः या आठ-दस लोगों की टोली नुक्कड़ या चौराहों पर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये जमा हो जाती है और नाटक की शैली में अभिनय और संवाद चालू कर देते हैं। पच्चीस से तीस मिनट तक यह नाटक चलता है और यह टोली अपनी बात जनता तक पहुँचाने के बाद फिर आगे बढ़ जाती है। अतः अब उन्हें (नाटक करनेवालों को) खुले रंगमंच पर दिन के प्रकाश में रोशनी एवं कलरफुल लाईट्स, रूप सज्जा आदि की अनिवार्यता आवश्यक प्रतीत नहीं हुई। ये नुक्कड़ रंगमंच छठे व सातवें दशक में निरन्तर बढ़ती बेरोजगारी, राजनीतिक भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, शोषण, बाल-विवाह, सतीप्रथा, कुव्यवस्था आदि पर प्रहार करता रहा। ये नुक्कड़ नाटक आज भी गाँवों में तथा शहरों में किसी भी जगह त्यौहारों पर खेलते हुए दिखाई पड़ते हैं, या फिर देश की कोई बड़ी समस्या को उठाने के लिये युवाओं की टुकड़ी नाटक खेलने बाहर निकल पड़ती है।

बहुधरातलीय रंगमंच :

साठ का दशक रंगमंच की दृष्टि से प्रयोगवादी दौर कहा जा सकता है। एब्सर्ड नाट्य परम्परा, नुक्कड़ नाट्य परम्परा और लोकनाट्य परम्परा के अतिरिक्त मुक्ताकाशी रंगमंच का प्रयोग भी अपनी विशिष्टता लेकर आया। इन मुक्काशी नाट्यों का जादू भारत में बंगाल के अलावा भिन्न-भिन्न राज्यों में, नगरों सड़कों,व आंगनों में देखा गया। इसमें नाटककारों की सीमाएँ निश्चित हो गई और दर्शक एक ओर से ही नहीं, लोकरंगमंच की तरह इस रंगमंच को खुले गगन में दोनों तीनों ओर से इस प्रदर्शन का आनन्द उठाने लगा।

इन रंगमंचों में भी नाटक यथार्थ की परिपाटी पर कल्पना व रंगमंच का मिलाजुला रुप हो गया है। संगीत की तटस्थता व गीतों के सुरीले व मीठे होने के कारण यह मंच भी दर्शकों के अधिक निकट पहुँच गया। प्राकृतिक रंगमंची परिवेश में खेले जाने वाले ये नाटक मुक्ताकाशी रंगमंच का एक नया आयाम बन गये।

इस रंगमंच के लिये नये-नये वैज्ञानिक उपकरणों को प्रयोग में लाया जाने लगा। दिल्ली के ताल कटोरा उद्यान में सर्व प्रथम इस प्रकार का रंगमंच बना जो भारत सरकार के युवा कल्याण विभाग द्वारा बड़ी मेहनत से सिर्फ नाटकों के प्रदर्शन के लिये सन 1955 में बनवाया गया। विश्वविद्यालयीन नाट्य स्पर्धाओं के अन्तर्गत उस समय अनेक विश्वविद्यालयों के दलों ने भाग लिया। जिसमें पटना, पूना और उस्मानिया विश्वविद्यालय के नाट्य दलों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार मिले। इसके बाद इसकी सफलता से अन्य कई स्थानों पर मुक्ताकाशी रंगमंच का निर्माण होने लगा जैसे, मुम्बई, कलकत्ता, लखनऊ, जबलपुर आदि। किन्तु इन रंगमंचों की बनावट एक दूसरे से भिन्न थी।

इण्डियन नेशनल थियेटर मुम्बई ने इस बहुधरातलीय रंगमंच का प्रयोग अपने 'भारेलो अग्नि' में किया। दिल्ली का रंगमंच अण्डाकार और प्रेक्षागृह घोड़े की नाल के आकार का था। इस रंगमंच को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था, जिससे सामने बैठे हुये दर्शकों और मंच पर अभिनय करने वाले अभिनेताओं को कोई कष्ट न हो। ये दोनों भाग रंगशीर्ष व रंगपीठ में बँटा हुए थे। रंगशीर्ष रंगपीठ की अपेक्षा थोड़ा ऊँचा था। इसेक पीछे आधे वृत्ताकार आकार वाली गगनिका थी, और चौड़ाई ३० फीट के करीब थी। इससे जुड़कर एक चबूतरा था जिस पर एक गोलाई में फुहारे लगे हुए थे। जो हर्षोल्लास, त्यौहारों, ऋतुओं, पर्वों आदि के प्रतीक रुप में प्रयोग में लाये जाते थे।

मंच पर किसी भी अन्य कलर के पर्दों के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती थी। प्रकाश की व्यवस्था का उचित प्रयोग किया जाता था। उसे पूर्ण आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से लगाया गया था। नेपथ्य और श्रृंगार का कक्ष मंच के पीछे वाले भाग में था। मुक्ताकाशी रंगमंच पर बहुखण्डीय मंच का प्रयोग 'दीवार' नाटक के दौरान पृथ्वीराज कपूर ने अपने 'पृथ्वी थियेटर', मुम्बई में एक प्रदर्शन के दौरान किया। परिक्रमी व चक्रीय मंच की स्थापना मुम्बई में ही बिडला मातुश्री सभागृह में स्थायी रूप से हो गई। इसके अलावा इस प्रकार की एक और रंगशाला का प्रयोग 'ठाकुर रंगालय' का निर्माण दिल्ली के पंढारी भाग में बिड़ला

राइफल्स के निकट हुआ। दिल्ली के इस रंगमंच की अपनी एख अलग विशिष्टता थी। इसमें इसकी संकुचनशीलता पर ध्यान दिया गया और साथ ही साथ इसके क्षेत्रफल को कम और ज्यादा करने की उचित व्यवस्था थी। कुछ विशेष प्रदर्शनों के दौरान इसका क्षेत्रफल बड़े आकार में (100 फीट से 120 फीट तक) तब्दील किया जा सकता था। और मुख्य आकार (50 फीट से 100 फीट तक) फैलाया जा सकता था, इसमें आगे और पीछे दोनों जगहों पर प्रकाश की सुव्यवस्थित व्यवस्था थी जिसको नियंत्रित करने के लिये एक प्रकाश नियंत्रण कक्ष या दिप्तिकक्ष कक्ष भी बनाया गया था।

"उत्तर प्रदेश में अमृतलाल नागर ने लखनऊ में अपने नाटक परिवर्तन (1853) को इसी प्रकार के मंच पर मंचित किया था।"[36] इश बहुधरातलीय रंगमंच के सम्बन्ध में नेमिचन्द जैन ने अपना मत रखते हुए कहा है -

"हमारे देश का रंगमंच जिस अवस्था में है और बहुमुखी सामाजिक, आर्थिक विकास की तीव्र कठिनाइयाँ हर समुदाय के सामने है उन्हें देखते हुए बड़ी-बड़ी रंगशालाओं व बंद रंगभवनों के लिये साधन जुटाना बहुत आसान नहीं था। किन्तु सामान्य सुविधाओं से युक्त मुक्ताकाशी रंगमंच और प्रेक्षागृह बनाना इतना व्यवसाध्य नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने अथवा उसकी देखभाल का कार्य ही कठिन होता है।"[37]

सन 1963 में इब्राहीम अल्काजी द्वारा फिरोजशाह कोटला के ऐतिहासिक खण्डहरों में धर्मवीर भारती का नाटक 'अन्धा युग' प्रदर्शित किया गया, जिसमें पात्रों को आधुनिक शैली में सादे वस्त्रों में प्रदर्शन करने को कहा गया। इसकी सफलता के पश्चात सन 1967 में तालकटोरा के खण्डहरों के बीच एक बुर्ज, टूटे दरवाजे, सीढ़ियों और चक्रिय मंच वाले इस खुले रंगमंच पर भी इस नाटक को प्रस्तुत किया गया। नयी प्रयोगविधियों और नवीन सम्भावनाओं को खोजने के उद्देश्य से इन नाटकों को प्रस्तुत किया गया। इसके बाद तो इस तरह के रंगमंच पर कई नये-नये नाटकों का प्रदर्शन हुआ, जिनमें प्रमुख रूप से डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का 'वसंत ऋतु का नाटक', 'बकरी', 'सिंहासन खाली है', 'यक्ष प्रश्न' आदि प्रमुख हैं। रमेश बक्षी का 'रस गंधर्व', 'बुलबुल सराय', लाल का 'सगुन पंछी', उत्तर युद्ध

शंकर शेष का 'अरे मायावी सरोवर' आदि नाटकों का मंचन भी इस मुक्ताकाशी रंगमंच पर ही हुआ। क्योंकि ये एक तो आसानी से खेले जा सकने वाले थे और अधिक फैलाव व विस्तार के लिये ये नाटक इस रंगमंच के लिये उपयुक्त भी थे।

इस प्रकार की मुक्ताकाशी रंगशाला अहमदाबाद में भी बनी जिसमें मंच के एक ओर चित्रबंधीय तथा दूसीर ओर खुले रंगमंच की संयुक्त व्यवस्था थी। इसका नाम रवीन्द्र रंगशाला था। इसके बाद तो नाटक मण्डलियों ने अपनी संस्था के विस्तार के बाद सुविधानुसार ऐसी रंगशालाओं का निर्माण प्रारंभ कर दिया, किन्तु फिर वे अधिक समय तक नहीं चल सकीं। इसका कारण शायद कुछ नाटकों की विशिष्ट प्रभान्विति रही जो खुले मंच पर बिखर जाती है।

बहुचर्चित नाट्य निर्देशक बन्सी कौल मोहन राकेश के नाटकों के सम्बन्ध में कहते हैं - "बहुत से नाटक जैसे आधे अधूरे में मुक्ताकाशी रंगमंच पर खेलने की कल्पना भी नहीं कर सकता। आषाढ़ का एक दिन बन्द कमरे (रंगशाला) के लिये लिखा गया है, किन्तु इसेमें भी प्राकृतिक परिवेश बहुत अधिक प्रमुख होने के कारण मुक्ताकाशी रंगमंच पर यह प्रभावी हो सकता है। क्योंकि इसमें प्रकृति महत्वपूर्ण है। 'आधे अधूरे' में हो सकता है कि मुक्ताकाशी रंगमंच पर इसे प्रस्तुत करने पर मुझे लगता है कि उससे उसकी सूक्ष्मता नष्ट हो जायेगी।"[38]

अपने दूसरे वक्तव्य में बंसी कौल कहते हैं कि "हमारे यहाँ मुक्ताकाशी रंगमंच की अवधारणा विकसित नहीं हुई क्योंकि शौकिया रंगकार्य मुक्ताकाशी रंगमंच पर हुआ ही नहीं। बस हाल ही में थोड़ा बहुत शुरु हुआ है। नाट्य विद्यालयों में जो थोड़ा बहुत था भी, वहाँ भी कुछ न कुछ निर्माण जरुरी होता था मुक्ताकाशी रंगमंच में भी जो कि शायद अव्यवसायी मण्डलियाँ तो बर्दाश्त नहीं कर सकती थी इस तरह से हमारा शहरी रंगमंच देहाती रंगमंच से इतना कटा रहा, जबकि हमारे देहाती रंगमंच में मंचन के अलग-अलग ढंग है।"[39]

21वीं सदी में आज जबकि रंगमंच में विविध प्रकार से नये प्रयोग किये जा रहे हैं वहीं रंगमंचीय नाटकों को दर्शक खुले आकाश के नीचे, खुले मंच पर भी देख रहा है। तीस वर्षों के लम्बे अन्तराल के पश्चात सन् 1999 से मुक्ताकाशी रंगमंच का प्रयोग फिर एक बार मराठी नाटक 'जाणता राजा' में हुआ। पूना, इन्दौर, अहमदनगर, मुम्बई आदि स्थानों पर इस नाटक और रंगमंच दोनों का प्रयोग सफलतापूर्वक हो चुका है। भारत में हर जगह इसे खेलने की योजना है। इस नाटक में सम्पूर्ण कथा राजा शिवाजी महाराज के जीवन और संघर्ष पर है। ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इसे अभिनीत करने के लिये इसके रंगमंच का स्वरूप भी वैसा ही बनाने की कोशिश की गई है जैसा कि पहले रहा होगा। मंच पर हाथी, घोड़े सजाकर यथार्थ रूप में ही लाये गये। एक ओर युद्ध करते हुए सैनिकों का दृश्य दर्शाया जाता है जिसमें पात्र हाथी और घोड़ों पर बैठकर युद्ध करते हैं। दूसरी ओर एक और नये मंच को सामने लाया जाता है जिसमें दृश्य परिवर्तित हो जाता है। इसमें महल की आन्तरिक स्थितियों का वर्णन था। सशक्त अभिनय के माध्यम से संवादों पर विशेष ध्यान रखा गया। वेशभूषा और पहनावा आधुनिक न होते हुए राजा शिवाजी के वस्त्रों की वेशभूषा की तरह ही थी व सैनिकों की वेशभूषा भी सैनिकों की तरह थी। हाथों में तलवार लिये युद्ध मंच पर वे अपनी युद्धकला से लड़ते हैं। संगीत की प्रधानता व इसका मुख्य आकर्षण लाईट इफेक्ट (प्रकाशीय प्रभाव) रहा जिससे इस नाटक की जीवंतता प्रकट होती है। नगारा, ढोल, तबला आदि ताल वाद्यों का समय पर प्रयोग नाटक में किया गया जिससे संगीत भी नाटक का एक प्रमुख अंग बन गया।

इस प्रकार यह युग रंगमंच के लिये समर्पित नाट्य प्रस्तुतकर्ताओं का रहा है जिन्होंने नाटक को पारसी थियेटर के भौंडे मनोरंजन से बाहर निकालने के प्रयास किये और हिन्दी के रंगमंच को एक ऐसा स्वरूप देने में सफल हुए जिसका विकास आगे के दशकों में विभिन्न रचनात्मक प्रयोगों द्वारा फलीभूत हुआ।

संदर्भ सूचि

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ. 234
2. पारसी हिन्दी रंगमंच
3. वही
4. वही
5. वही
6. वही
7. रंगमंच - बलवंत गार्गी पृ. 171
8. पारसी हिन्दी रंगमंच - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल पृ. 87
9. वही पृ. 87
10. वही पृ. 92
11. वही पृ. 92
12. वही पृ. 93
13. वही पृ. 93
14. वही पृ. 93
15. वही पृ. 93
16. वही पृ. 93
17. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक - डॉ. रामजन्म शर्मा पृ. 71
18. पारसी हिन्दी रंगमंच-डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल पृ. 97
19. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक - डॉ. रामजन्म शर्मा पृ. 97
20. भारतेन्दु ग्रंथावली पृ. 66
21. वही
22. कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह - हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ. 263
23. भारतेन्दु ग्रंथावली पृ. 790
24. भारतेन्दु हरिश्चंद्र पृ. 20
25. वही पृ. 25
26. धर्मयुग - 19 नवम्बर - 1972 पृ. 23
27. वही पृ. 23
28. पृथ्वीराज अभिनन्दन ग्रंथ पृ. 314
29. वही पृ. 337
30. दि इण्डियन थियेटर - चंद्रभान पृ. 174
31. रंगमंच - बलवंत गार्गी पृ. 203
32. पृथ्वीराज अभिनन्दन ग्रंथ- बलवंत गार्गी पृ. 343
33. पश्यंती पृ. 110
34. गिरीश रस्तोगी - समकालीन हिन्दी नाटककार पृ. 150
35. डॉ. जयदेव तनेजा-आजकल दिसम्बर 1980 पृ. 9